श्रीः

श्रीपञ्चपरमेष्ठिने नमः

मंगल-विचार-दर्पण

अर्थात्

श्री कलकत्ता नगरस्थ "मूलचन्द मङ्गलचन्द" फर्म के अध्यक्ष,
श्री बीकानेरनिवासी नररत्न श्री मूलचन्दजी के सत्पुत्र,
श्रीयुत सेठ मङ्गलचन्दजी दूगड़ के "कुरीतिसंशो-
धन" तथा "कर्त्तव्यपालन" नामक
दो लेखों का संग्रह

जिसको—

जयदयाल शर्मा शास्त्री (भूतपूर्व संस्कृत प्रधानाध्यापक श्रीडूंगर-
कालेज बीकानेर) ने संशोधित कर तथा पूर्वोक्त महानुभाव के
संक्षिप्त जीवनचरित्र की योजना कर सज्जनों के
लाभार्थ प्रकाशित किया

—:○:०:○:—

वैदिक यन्त्रालय अजमेर में मुद्रित

प्रथमवार } माघशुक्ला पञ्चमी } विना मूल्य वितीर्य
१०० प्रति } संवत् १९८२ वि०

प्रस्तावना



(संशोधक की ओर से)



प्रिय सज्जनवृन्द !

अत्यन्त आनन्द का विषय है कि आज मुझे श्री कलकत्ता नगर के "मूलचन्द मङ्गलचन्द" फर्म के अध्यक्ष, नररत्न श्रीमूलचन्दजी के पुत्र परमउदार, धर्मशील, दूरदर्शी तथा विद्यानुरागी, श्रीबीकानेरनिवासी, श्रीयुत मङ्गलचन्दजी महोदय दूगड़ के "कुरीतिसंशोधन" तथा "कर्त्तव्यपालन" नामक दो लेखों का संशोधन कर आपकी सेवा में उपस्थित करने का शुभावसर प्राप्त हुआ है। वास्तव में उक्त दोनों लेख मानवजाति के सुधार के लिये मुख्य साधनरूप और परम उपयोगी हैं। प्राकृतिक नियम है कि प्रत्येक कार्य तब ही सफलता को प्राप्त होता है—

जब कि उसको अविधि का त्याग कर उचित रीति से किया जाता है, अतएव मानना पड़ेगा कि जबतक मनुष्य हानिकारक कुरीतियों का निवारण कर अपने कर्त्तव्य का पालन न करेगा तबतक यह मानव-जीवन की सफलता को कदापि प्राप्त नहीं हो सकता है, वर्त्तमान समय में हानिकारक कुरीतियों का प्रचार और वास्तविक कर्त्तव्य का अपालन ही तो भारत के अधःपतन का प्रधान कारण हो रहा है। ऐसे महत्त्वपूर्ण तथा गौरवास्पद लेखों में जो सद्भावों तथा उच्च विचारों का निदर्शन किया गया है यह सोने में सुगन्धि की कहावत को चरितार्थ करता है, अतएव सज्जनवृन्द से मेरा सविनय अनुरोध है कि एक बार उक्त महोदय के पूर्वोक्त दोनों लेखों का अवश्य अवलोकन कर लाभ उठावें।

इन लेखों के प्रकाशन के समय में मैंने लेखक महोदय का संक्षिप्त जीवनचरित्र भी अपनी ओर से इसलिये संयोजित कर दिया है कि पाठकजनों को उक्त महोदय का कुछ परिचय भी प्राप्त हो जावे।

किञ्च—यह भी स्मरण रहे कि यह जीवनचरित्र मैंने अपनी

विज्ञता के अनुसार तथा पूछ तांछ कर लिखा है, क्योंकि चरित्रनायक महोदय ने तो पूछने पर भी स्वचरित्रघटना का कुछ भी विवरण प्रकाशित नहीं किया था, सत्य है महानुभाव अनुष्ठित भी स्वकर्त्तव्य का स्वयं कथन नहीं करते हैं। ऐसी दशा में चरित्रनायक महोदय से जीवनचरित्र लेख में त्रुटि के हेतु क्षमा-प्रार्थना की भी मुझे कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है, हां उक्त महोदय के चरित्रवेत्ता सज्जनों से मैं यह प्रार्थना अवश्य करूँगा कि इस जीवनचरित्र लेख में जो त्रुटियां हों उनके लिये वे कृपया मुझे क्षमा प्रदान करें।

अन्त में मैं अपने प्रिय पाठकवर्ग से निवेदन करना चाहता हूं कि इन लेखों के संशोधन में जो त्रुटियां रही हों उनकी ओर ध्यान न देकर तथा सारभाग का ग्रहण कर मुझे अनुगृहीत करें। किम्बहुना विज्ञेषु।

निवेदकः—

जयदयाल शर्मा शास्त्री

(भूतपूर्व संस्कृत प्रधानाध्यापक श्रीडूंगर कालेज)

बीकानेर

श्रीयुत सेठ मङ्गलचन्दजी दूगड़

का

संक्षिप्त जीवन-चरित्र



श्री परमदयालु विश्वम्भर परमात्मा को अनेकानेक धन्यवाद प्रदान कर तथा श्रीमान्, मान्यवर, धीर, वीर चिरप्रतापी, श्रीमन्मुकुटमणि, छत्रपति, राजराजेश्वर, नरेन्द्र शिरोमणि, महाराजाधिराज, बंगलाधर बादशाह श्री श्री श्री १०८ श्री......................श्रीकाशनाथजी महोदय को श्रीमच्चिरञ्जीवि पौत्रलाभ के हेतु परम आह्लादपूर्वक बधाई प्रदान कर श्रीपरमात्मा से विशुद्धभाव से प्रार्थना की जाती है कि उक्त महानुभाव नृपतिवर्य का रामराज्य निष्कंटक होकर प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होता रहे; कि जिसमें सर्व प्रजागन शिक्षासम्पन्न होकर सदाचार का परिपालन

करते हुए आनन्दपूर्वक अपनी जीवनयात्रा को व्यतीत करते हैं और जिसमें पुत्रवत् प्रजा का पालन होकर उसकी हितवृद्धि और उन्नति के उपाय निरन्तर सोचे और उपयोग में लाये जाते हैं, केवल यही कारण है कि यहां के प्रजाजन सद्विद्या और सद् योग्यता का सम्पादन कर तथा देशोद्धारसम्बन्धी अनेक धार्मिक कार्यों को करते हुए अपने जीवन को आदर्शभूत बनाकर नररत्न संज्ञा के अधिकारी बनते जाते हैं।

जिन महानुभाव का जीवन-चरित्र यहां पर लिखा जाता है वे महोदय भी उपर्युक्त नररत्नों में से एक हैं, आप ओसवाल जातीय श्रीयुत सेठ मूलचन्दजी दूगड़ के सत्पुत्र हैं, आपका जन्म संवत् १९४७ वि० में कार्त्तिक शुक्ला १४ को हुआ था, आपके पिता यद्यपि मध्यम श्रेणी के पुरुष थे अर्थात् विशेष वैभवसम्पन्न नहीं थे तथापि प्रकृति के उदार, दूरदर्शी, सर्वप्रिय और धर्मशील सज्जन थे, आपकी मातुःश्री श्रीमती सोना देवी अत्यन्त धर्मिष्ठा, गम्भीरप्रकृति, नियम पालन में निरत, उदारचित्ता

और परमदयावती थीं, सद्व्याख्यान और सदुपदेश श्रवण की उन्हें बड़ी भारी रुचि थी। उसी के सत्प्रभाव से अनेक शास्त्रीय विषयों में उन्हें पूरा अभ्यास था और वे प्रायः किसी न किसी से निरन्तर धर्मचर्चा करती ही रहती थीं, उनका धार्मिक स्नेह ऐसा था कि अपने सब कार्यों को छोड़कर नियत समय पर वे अपना नैत्यिक धर्मकृत्य अवश्य ही किया करती थीं॥

अपने माता पिता के एकाकी पुत्र होने के कारण अधिक लाड़ प्यार के हेतु हमारे चरित्रनायक का बाल्यावस्था में यद्यपि कुछ विशेष विद्याभ्यास नहीं होसका, किंच छोटी ही अवस्था में माता पिता का स्वर्गवास होजाने के कारण अनेक सांसारिक चिन्ताओं के उपस्थित होने से फिर भी आप को विद्याभ्यास का अवसर प्राप्त नहीं हो सका, तथापि आपने जीविका आदि सांसारिक झगड़ों से थोड़ा बहुत समय निकाल कर कुछ न कुछ विद्याभ्यास कर ही लिया, आपको हिन्दी, अंग्रेजी तथा गुजराती आदि कई भाषाओं में अच्छा अभ्यास है।

प्रथम लिखा जा चुका है कि आपके पिताजी महाशय मध्यमश्रेणी के पुरुष थे अर्थात् उनके पास कुछ विशेष वैभव नहीं था, अतएव वे यथायोग्य सांसारिक कार्यों का निर्वाहमात्र करते थे, किंच स्वर्गवास होने के समय वे ३५००) रुपये का ऋण भी छोड़ गये थे, हमारे चरित्रनायक महोदय ने अपने जीविकोद्यम के द्वारा उक्त ऋण को भी चुकाया तथा सांसारिक कार्यों का निर्वाह भी किया। आपने जबतक उक्त ऋण को नहीं चुका लिया तबतक अपनी धर्मपत्नी के हाथ में सोने की बंगड़ी भी बनवाकर नहीं पहिनाई (कि जिनका होना विवाह के पश्चात् जाति के नियम के अनुसार अत्यावश्यक होता है)। सत्य है महानुभाव ऋण को अपने शिर पर एक बड़ा भारी भार तुल्य समझते हैं और जबतक वे उससे उऋण नहीं होजाते हैं तबतक अहर्निश उन्हें उसके चुकाने की चिन्ता बनी ही रहती है, किन्तु वास्तव में वे लोग अविवेकी हैं जो कि ऋण की कुछ भी परवाह न कर आप सब तरह से मौज उड़ाते हैं।

हमारे चरित्रनायक महोदय कुछ समय से कलकत्ता

नगर में दलाली आदि का काम करते हैं तथा उक्त नगर में आपका एक फर्म भी है जो कि "मूलचन्द मङ्गलचन्द फर्म" के नाम से प्रसिद्ध है, अपनी बुद्धिमानी और चतुराई से आपने पर्याप्त साधन न मिलने पर भी लगभग चार लाख रुपया अबतक पैदा किया है। पाठकगण इस कथन से यह न समझलें कि उक्त महोदय इस समय चार लाख के अधिपति हैं। नहीं, नहीं, उस कमाये हुए धन में से अपनी उदार प्रकृति के अनुसार जब जिसने कार्यविशेष को प्रकट कर उधृतरूप में मांगा तब आप उसे बराबर देते रहे, परन्तु उधृत रूप में लेने पर भी लोगों से एक पैसा भी वापिस नहीं आया, समय का ऐसा ही प्रभाव है। परिणाम यह हुआ कि लगभग ढाई तीन लाख रुपया बट्टेखाते डालना पड़ा। शेष बचे हुए भी धन का आप अपनी दयालु प्रकृति के अनुसार चिरकाल से अबतक दानादि के द्वारा निरन्तर सदुपयोग करते रहे हैं, क्योंकि देशोद्धार और परोपकार की चिन्ता आपके हृदय में सर्वदा विराजमान रहती है, इसके अतिरिक्त आपमें सहानुभूति और परसौख्यप्रदान की रसिकता तो ऐसी बढ़ी हुई है कि

परिचित, इष्ट, मित्र और स्नेही जनों का कार्य करने में आप अपने द्रव्य की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते हैं। आपने समय २ पर जो जो प्रशंसनीय कार्य किये हैं उनका विस्तार के भय से उल्लेख नहीं किया जाता है। पाठकगण ऊपर लिखित वाक्यों से ही जान सकते हैं कि आपकी प्रकृति कितनी उदार है, आपकी उदारता के विषय में केवल इतना ही लिख देना पर्याप्त होगा कि आपके द्वारा अनेक देशोपकारी तथा धर्मसम्बन्धी कृत्यों में अबतक पुष्कल सहायता पहुँच चुकी है।

आपके सौजन्य, सद्वर्ताव, शिष्टता और सद्भाव की तो प्रशंसा करना हमारी लेखनी शक्ति के बाहर है, इन गुणों का तो पूर्णतया अनुभव उन्हीं सज्जनों को है कि जिन का आप से काम पड़ चुका है।

आये हुए कार्यार्थी पुरुष का आप के यहां से विमुख जाना तो आपको असह्य दुःखप्रद होता है, इसलिये आप यथाशक्ति कभी ऐसा अवसर आने ही नहीं देते हैं। मैंने सुना और देखा भी है कि आये हुए कार्यार्थी मनुष्य को

आप जहांतक सन्तुष्ट नहीं कर लेते हैं, वहांतक उसको जाने नहीं देते हैं, मैं स्वयं अपने अनुभूत वृत्त का उल्लेख करता हूँ कि लगभग २० दिन पहिले (जब कि आप अपना प्रायः अधिकांश द्रव्य धर्मसम्बन्धी नियत कार्य के लिये निकाल चुके थे तथा मेरे अभीष्ट धर्मकार्य के लिये आपके पास कोई फण्ड भी नहीं था) मैं एक जैनी धार्मिक कार्य में सहायताप्राप्ति के उद्देश्य से आप के पास गया और आप से उसके विषय में निवेदन किया, तब आपने फरमाया कि "आपके अभीष्ट धर्मकृत्य के लिये यद्यपि मेरे पास फण्ड तो कोई नहीं है; क्योंकि मैं दो चार दिन हो पहिले अन्य कृत्यों के लिये अपने द्रव्य को निकाल चुका हूँ, तथापि आप जैसे विद्वान् का मेरे यहां से निराश जाने का दुःख मेरे लिये असह्य होगा, अत मैं कुछ न कुछ सहायता आपको अवश्य दूंगा"। यह कह कर आपने अपनी अभीष्ट सहायता को प्रकट किया, परन्तु उतनी सहायता से मेरी उचित सन्तुष्टि नहीं हुई, तब आप ने उस से अधिक सहायता प्रदान कर मुझे सन्तुष्ट कर ही विदा किया। धन्य है ऐसे सत्पुरुषों को, आप ही जैसे पुरुषों में

नीतिशास्त्र का यह वाक्य घटित होता है कि—

श्लाघ्यः स एको भुवि मानवानाम् ।
स उत्तमः सत्पुरुषः स धन्यः ॥
यस्यार्थिनो वा शरणागता वा ।
नाशाभिभङ्गाद् विमुखाः प्रयान्ति ॥

अर्थात् इस संसार में सब मनुष्यों में वही एक मनुष्य श्लाघ्य है, वही उत्तम और सत्पुरुष है तथा वही धन्य है कि जिसके घर से कार्यार्थी और शरणागत पुरुष निराश होकर विमुख नहीं जाते हैं।

यों तो आप अपनी जीवनी में सदा ही शुभकार्यों में अपने द्रव्य का उपयोग करते ही रहे हैं; परन्तु अभी हाल में अपनी रुग्णावस्था में भी जो आपने एक अति प्रशंसनीय कार्य किया है उसका श्रवण कर सहृदय सज्जनों का चित्त अवश्य गद्गद हो जावेगा और वे उस कार्य्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा किये बिना कदापि नहीं रह सकेंगे। कार्य का विवरण यह है कि सदुपयोगों से बचा हुआ द्रव्य इस समय आप के पास लगभग पचास हज़ार

रुपये के था, उसको भी आपने अपनी उदार प्रकृति के अनुसार इस समय यह सदुपयोग कर दिया है कि स्वकुटुम्ब के निर्वाह के लिये लगभग बाईस हजार रुपये रखकर अट्ठाईस हजार रुपये का इकट्ठा-फण्ड धर्मकार्य के लिये समर्पित कर रजिस्ट्री करादी है, जिसका ब्योरा यह है कि अठारह हजार के कम से कम ९०) रुपये मासिक ब्याज से अन्धे, लूले, लँगड़े आदि असमर्थ जीवों का पालन किया जावे, सात हजार के कम से कम ३५) रुपये मासिक ब्याज से श्रीगुरुदेव श्री दादाजी के मन्दिर की मरम्मत आदि होती रहे तथा तीन हजार रुपये के कम से कम १५) रुपये मासिक ब्याज से जीर्ण शीर्ण अन्य मन्दिरों की मरम्मत आदि होती रहे। आपकी यह भी इच्छा थी कि धर्मपत्नी के स्वर्गवास के पश्चात् कुटुम्ब-निर्वाहार्थ रक्खी हुई रकम भी धर्मफण्ड में मिला दी जावे परन्तु निःसंतान होने के कारण दत्तक पुत्रादि के उद्देश्य को लेकर कुटुम्बवर्ती जनों के अवरोध करने से आप ऐसा नहीं कर सके। किञ्च, आप के पूर्वोक्त कार्य में भी अनेक जनों ने अपना विरोधभाव प्रकट किया था परन्तु आप ने किसी की एक

नहीं मानी, मानते भी कैसे ? आप के हृदयपटल पर तो नीतिशास्त्र का यह वाक्य अङ्कित है कि:—

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्तिवित्तस्य ।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥

अर्थात् दान, भोग और नाश, ये तीन गति धन की होती हैं, जो मनुष्य धन को दान और उपभोग में नहीं लगाता है उसके धन की तीसरी गति होती है ॥

आप ने इस शुभकार्य के चिरस्थायी रहने के लिये छः सज्जनों को ट्रस्टीरूप में नियत कर दिया है, जिनके नाम ये हैं–श्रीमान् लालचन्दजी पारख, श्रीमान् नेमचंदजी पारख, श्रीमान् सुखलालजी बुधा, श्रीमान् आनन्दमलजी श्रीमाल, श्रीमान् रावतमलजी दूगड़ और श्रीमान् रघुनाथ-सिंहजी वैद । ट्रस्टी जनों को यह भी अधिकार दे दिया गया है कि वे किसी एक ट्रस्टी के कारण विशेष से पृथक् हो जाने पर वा कार्य न करने पर किसी अन्य योग्य पुरुष को ट्रस्टी चुन लेवें, किन्तु उक्त संख्या को न्यून न होने देवें। पूर्वोक्त ट्रस्टीजनों से हमें दृढ़ आशा है कि वे हाथ में

लिये हुए इस शुभ कार्य के चिरस्थायी रहने के लिये पूर्ण प्रयत्न करते रहेंगे कि जिससे उक्त धार्मिक महानुभाव के आत्मा को उभयलोक में शान्तिसुख प्राप्त हो तथा ट्रस्टीजनों को व उनके कुटुम्ब को यश व पुण्य की प्राप्ति हो।

इस प्रकार चरित्रनायक महोदय के आर्थिक सदुपयोग का संक्षेप में वर्णन किया गया, अब आपके स्थायी सम्पत्ति के दान को सुनिये—यहां के पोस्ट आफिस के सामने लगभग पांच हजार रुपये के मूल्य की आपकी भूमि थी, उसे भी आपने धर्मकार्य के लिये समर्पित कर दिया है अर्थात् श्री जैनदिगम्बर आम्नाय के श्रावकों को मन्दिर बनाने के लिये उसे धर्मार्थ प्रदान कर दिया है।

इसके अतिरिक्त आपके द्वारा निःसहाय दीनजनों का यथाशक्ति प्रतिदिन अन्न वस्त्रादि से पालन होता ही रहता है। इस प्रकार द्रव्य, भूमि, अन्न और वस्त्रादि प्रदान कर दयोपकारकर्त्ता ऐसे नररत्न को शतशः धन्यवाद है।

इस लेख को समाप्त करने से पहिले मुझे यह निवेदन अत्यावश्यक प्रतीत होता है कि विवाहादि उत्सवों

में अपव्यय कर नेकनामी को पाने की इच्छा रखनेवाले, एवं मोदकप्रिय भोजनभट्टों के द्वारा दो घड़ी के लिये वाह वाह, बधाई और धन्यवाद को लूटकर अपने को कृतार्थ माननेवाले धनिक जनों को उक्त महानुभाव के इस पूर्वोक्त कार्य से शिक्षा लेकर मानुषी कर्त्तव्य पथ पर आरूढ़ होना चाहिये तथा हृदय में इस बात का निरन्तर विचार करना चाहिये कि जिस मनुष्य ने इस संसार में उत्पन्न होकर देव, गुरु और धर्म की भक्ति नहीं की, जिसने उत्तम शिक्षा को प्राप्त नहीं किया, जिसने विद्वानों का मान एवं विद्याप्रचार की वृद्धि नहीं की, जिसने देशसेवा को अपना कर्त्तव्य जान दीन हीन भाइयों को सहायता नहीं पहुँचाई; जिसने सच्छील, परोपकार, सत्य, ब्रह्मचर्य, ज्ञान, विज्ञान, शास्त्राभ्यास, अहिंसा, दया, क्षमा, सन्तोष, विनय और दान आदि मानवी सद्‌गुणों का उपार्जन कर अपने कुल को गौरवास्पद नहीं बनाया तथा जिसने कुरीतियों का संशोधन और सन्मर्यादा का परिपालन कर देशहित एवं दूसरों के अनुकरण के लिये अपने जीवन को आदर्श-रूप नहीं बनाया, संसार में उसका जन्म व्यर्थ है और वह

धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षरूप मनुष्यजन्म-फलों को कदापि प्राप्त नहीं कर सकता है। इन सब बातों को विचार कर उन्हें अवश्यमेव सन्मार्ग का आश्रय लेना चाहिये कि जिससे उनका मानव-जन्म सफल हो तथा वे अनुपम कल्याण के मार्गी बनें।

अन्त में श्रीभगवान् से मेरी सविनय प्रार्थना है कि पूर्वोक्त चरित्रनायक महानुभाव शीघ्र ही नीरोगता को प्राप्त होकर चिरजीवी हों कि जिससे आपकी धर्मपत्नी (जो कि एक परम सुशीला, पतिभक्ता, धर्मप्रिया और सदाचारिणी देवी हैं) का सौभाग्य चिरस्थायी हो तथा आप के द्वारा इसी प्रकार धार्मिक कार्यों का सम्पादन होने से देश का चिरसमय तक निरन्तर कल्याण होता रहे।

किमधिकं विज्ञेषु।

निवेदक—

जयदयाल शर्मा शास्त्री,

(भूतपूर्व संस्कृत प्रधानाध्यापक श्रीडूंगर कालेज)

बीकानेर।

भूमिका

(लेखक की ओर से)

प्रिय मित्रवर्ग !

मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूं कि "कुरीति-संशोधन" तथा "कर्त्तव्यपालन" नामक मेरे दो लेख आज प्रकाशित होकर आप के दृष्टिगोचर हो रहे हैं। मैं आप से यह निवेदन कर देना अत्यावश्यक समझता हूं कि मैं किसी भाषा का न तो विद्वान् हूं और न लेखक ही हूं, ऐसी दशा में भला मेरे लेख सत्पुरुषों के मनोरंजन के लिये एवं सर्वसाधारण को कुछ शिक्षा देने के लिये पर्याप्त कैसे हो सकते हैं ? मैंने तो एक दिन विचारतरङ्ग में निमग्न होकर बाललीलावश केवल अपने भावों को रख छोड़ा था, किन्तु उनके

शन के लिये मेरा साहस नहीं होता था, मुझे सदा भय लगता था तथा सन्देह उपस्थित होता था कि इनका प्रकाशन करने से मैं कहीं उपहासास्पद न बनूं, किन्तु धन्यवाद है श्रीसर्वज्ञ प्रभु को, कि जिनकी कृपा से और मेरे सौभाग्य से मेरा एक दिन अचानक ही श्रीमान् मान्यवर, विद्वद्वर्य, परम विनीत, गाम्भीर्यादि-सद्गुण-समलङ्कृत, श्री पण्डित जयदयालजी शर्मा शास्त्री (भूतपूर्व संस्कृत प्रधानाध्यापक श्रीडूंगर कालेज बीकानेर) से समागम हो गया तथा प्रसङ्गानुसार मैंने अपने लेखों को उक्त महोदय को दिखलाया। आपने महानुभावों की सहज-प्रकृति के अनुसार लेखों का अवलोकन कर उनकी प्रशंसा की तथा प्रकाशन के हेतु मुझ से अनुरोध भी किया, केवल इतना ही नहीं किन्तु इसके संशोधन का भार भी अपने ऊपर लेकर मुझे कृतार्थ किया, बस इसी अवलम्ब को पाकर मैंने इन लेखों को आप के आगे रखने का यह साहस किया है। मैं यह भलीभांति जानता हूं कि मेरे जैसे अपठित साधारण मनुष्य के ये लेख सत्पुरुषों के विचारार्पण के लिये सर्वथा अपर्याप्त हैं; परन्तु जैसे कमलपत्र को प्राप्त होकर जल का बिन्दु मुक्ताफल की शोभा को धारण कर सत्पुरुषों के चित्त को आह्लाद

देता है और जैसे काच भी सुवर्ण के सङ्ग को पाकर मरकत-मणि की शोभा को प्राप्त होकर चित्ताकर्षक हो जाता है, उसी प्रकार ये मेरे दोनों लेख भी पूर्वोक्त विद्वद्वर्य महानुभाव की लेखनी के सङ्ग को प्राप्त होकर सज्जनों के चित्त को अत्यंत आह्लादप्रद होंगे, यह दृढ़ निश्चय है।

पूर्वोक्त विद्वद्वर्य श्री पण्डितजी महोदय ने इन लेखों के प्रकाशन में अपनी ओर से जो मेरा जीवनचरित्र संयोजित किया है, यह केवलमात्र उनकी मुझ पर सत्कृपा है, क्योंकि वास्तव में मैं ऐसा व्यक्ति नहीं हूं कि जिसका जीवनचरित्र लिखा जाकर सर्वसाधारण के सामने रक्खा जावे और लोग उससे कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकें। किञ्च जीवनचरित्र में जो मेरा गुण-प्रदर्शन आदि किया गया है सो वास्तव में मैं इस योग्य नहीं हूं कि मेरी कुछ भी प्रशंसा की जावे, क्योंकि मुझ में प्रशंसा के योग्य कोई भी गुण नहीं है, ऐसी दशा में केवल यही कहा जा सकता है कि ऐसा करने का प्रधान हेतु महानुभाव श्री पण्डितजी महोदय का मुझ पर स्नेह, सद्भाव तथा उनकी सज्जनता ही है। श्रीराजर्षि भर्तृहरि ने सत्य ही कहा है—

"परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः" अर्थात् सत्पुरुष दूसरे के परमाणुतुल्य गुणों को भी पर्वततुल्य मान कर अपने हृदयकमल को प्रफुल्लित करते हैं, अस्तु, उक्त स्नेहसद्भाव तथा सत्कृपा के लिये मैं उक्त महोदय का पूर्ण आभारी हूं।

अन्त में मैं पूर्वोक्त श्रीमान् पण्डितजी महोदय को उनकी पूर्ण कृपा के लिये विशुद्धभाव से धन्यवाद प्रदान कर पाठकवर्ग से सविनय निवेदन करता हूं कि मेरे दोनों लेखों में जो २ त्रुटियां हों आप उन पर ध्यान न दें किन्तु उनमें जो सार भाग हो उसे ग्रहण कर मुझे कृतार्थ करें।

यदि पाठकवर्ग को इन लेखों से कुछ भी लाभ पहुंचा तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगा।

भवदीय लेखक—

मङ्गलचन्द दूगड़

बीकानेर

॥ श्री ॥

॥ श्रीपञ्चपरमेष्ठिने नमः ॥

मंगल विचार-दर्पण

अर्थात्

दो लेखों का संग्रह

१—कुरीतिखण्डन ॥

प्रिय मित्रवर !

प्राकृतिक नियम है [illegible] के
लिये उचित [illegible] आचरण [illegible]

अर्थात् उचित रीति के आश्रय के बिना कोई भी कार्य कदापि सिद्ध नहीं हो सकता है। एक मनुष्य यदि यहां से किसी पूर्वीय स्थान को जाना चाहता हो तो जब तक वह पूर्व दिशा के मार्ग की ओर गमन न करेगा तब तक कदापि अभीष्ट स्थान पर न पहुंच सकेगा। सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र आदि का उदय और अस्त होना तथा दिन और रात्रि के गमन और आगमन आदि सबे कार्य हम सब को प्रतिसमय इस बात की शिक्षा देते हैं कि अपने जीवन की सफलता के लिये एवं सुख की प्राप्ति के लिये उचित रीति का अवलम्बन करो। भला सोचो तो सही कि उचित रीति के आश्रय के बिना आज तक किसी का कोई भी कार्य सिद्ध हुआ वा किसी ने सुख को प्राप्त किया? उचित रीति का परित्याग करने से कार्यसिद्धि और सुख-प्राप्ति की बात तो दूर रही, ऐसा करने से मनुष्यसमाज वा देश का अधःपतन हो जाता है, कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस अभागे भारतवर्ष का जो इस प्रकार अधः-पतन हुआ है और इसके निवासियों को जो तरह २ के दुःख प्राप्त हुए और हो रहे हैं उन का मूलकारण कुरी-

तियों का प्रचार ही है। नीतिशास्त्र का सिद्धान्त है कि "मार्गस्थो नावसीदति" अर्थात् जिसने उचित रीति का अनुसरण कर श्रेष्ठमार्ग का आश्रय लिया है; वह कभी दुःख का भागी नहीं बनता है. ऐसी दशा में मनुष्य के लिये क्या यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने जीवन की सफलता के लिये तथा दोनों लोकों के सुख की प्राप्ति के लिये शास्त्रोक्त उचित रीतियों का अवलम्बन करे तथा प्रयत्न से ही हानिकारिणी और दुःखदायिनी कुरीतियों का परित्याग करे। किन्तु बड़े दुःख और खेद के साथ लिखना पड़ता है कि अविद्यादेवी की उपासना से आज इस पवित्र भूमि में उन २ परम दुःखदायिनी तथा अनर्थकारिणी कुरीतियों का प्रचार हो रहा है कि जिनको देख कर व सुन कर रोमाञ्च खड़े हो जाते हैं, भला ऐसी दशा में इस देश के निवासियों को यदि त्रिविध ताप सन्तापित करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

पूर्व काल में (जब कि हमारा देश परम उन्नति के शिखर पर आरूढ था) नियमानुसार अर्थात् उचित रीति

का अवलम्बन कर मानवजाति के गर्भाधान, गर्भरक्षा, बालपोषण, कुमारशिक्षण, ब्रह्मचर्यसेवन, योग्य विवाह और उचित व्यय आदि सब कार्य होते थे, आज उक्त सर्व कार्यों में जो २ कुरीतियाँ घुस गई हैं उन का वर्णन करना असम्भव है और उनका वर्णन करते समय नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगती है।

आयुर्वेद शास्त्र का सिद्धान्त है कि २५ वर्ष से कम अवस्था वाला पुरुष १६ वर्ष से कम अवस्था वाली स्त्री में यदि गर्भाधान करता है तो वह गर्भ कुक्षि में ही स्थिर होकर विलीन हो जाता है, ऐसी दशा में यदि बालक उत्पन्न भी होता है तो वह चिरंजीवी नहीं होता है तथा यदि चिरजीवित भी होता है तो दुर्बलेन्द्रिय रहता है, इसलिये अल्पवय वाली स्त्री में गर्भाधान कभी नहीं करना चाहिये। पाठकगण! आयुर्वेद के उक्त सिद्धान्त को आगे रख कर तथा इस विषय में वर्त्तमान समय की दशा को देख कर क्या आपका अश्रुपात नहीं होगा? आज कल छोटे छोटे बालक और बालिकाओं के द्वारा उत्पन्न

होकर जो गुड्डा और गुड़ियों के समान बालक दीखते हैं और वे भी रोगग्रस्त रहते हैं, क्या उन्हें देखकर आपका हृदय विह्वल नहीं होता है ? बाल्यावस्था के कारण सहस्रों स्त्रियाँ प्रसूति के समय काल-ग्रास बन जाती हैं, क्या यह देख आप को कष्ट नहीं होता है ?

ऋतु-गमनमर्यादा का पालन प्राकृतिक नियम के अनुसार पशु पक्षी आदि भी करते हैं, परन्तु खेद है कि ज्ञान, विज्ञान और बुद्धि से सम्पन्न होने पर भी मानव-जाति अपने मानुषी धर्म को भूल इस नियम का उल्लङ्घन कर रही है।

अविद्या देवी के हृदयमन्दिर में निवास करने के कारण यहां की स्त्रियां इस बात से तो सर्वथा अनभिज्ञ ही हैं कि गर्भरक्षा के क्या २ उपाय हैं, गर्भरक्षा के लिये क्या२ आहार विहार हैं तथा मानसिक विचारों का गर्भ पर कितना प्रभाव पड़ता है। भला ऐसी दशा में वे यथार्थ गर्भरक्षा को क्योंकर कर सकती हैं ? इसी कारण वर्त्त-मान में भारत सन्तति अधिकांश में निर्वीर्य, उत्साह और

साहस से विहीन तथा उच्च विचारों से रहित दीख पड़ती है।

बालपोषण के यथार्थ नियमों का तो इस समय सर्वथा अभाव सा ही होगया है, अविद्या देवी की कृपा से स्त्रियाँ लाड प्यार के कारण बालकों को शक्ति से अधिक दूध पिलाकर अथवा अफीम आदि मादक द्रव्य को खिला कर उनकी नीरोगता को सर्वदा के लिये विनष्ट कर देती हैं, इसलिये वे बेचारे जीवनपर्यन्त अस्वस्थता के दुःख का भोग करते ही रहते हैं।

कुमार शिक्षण के विषय में तो लिखना ही क्या है, यह तो सर्वथा ही विनष्ट हो गया है, पूर्वकाल में उच्च विचार वाली बालक-माताएँ ही बच्चों के उन उच्च विचारों को उत्पन्न कर देती थीं तथा उनके हृदयों में उन शुभ संस्कारों का प्रवेश कर देती थीं कि जिन के आश्रय से बालक देश-सेवा, परोपकार तथा वीरत्व आदि सद्गुणों से युक्त होकर अपने कर्तव्य का पालन करते थे। एक विद्वान् का कथन है कि "बालक २८ महीने की आयु तक माता की गोद में जो कुछ शुभाशुभ संस्कार धारण कर लेता है वह

संस्कार जन्म भर उसके हृदय में स्थित रहता है।" आज दिन शिक्षा की बातें तो दूर गई उलटा अपठित मातायें बच्चों को "हौआ" आदि के अनेक भय दिखलाकर उनको ऐसा कुसंस्कारयुक्त और भीरु कर देती हैं कि वह संस्कार और भीरुत्व जन्म भर उनका पीछा नहीं छोड़ता है। आप सोच सकते हैं कि ऐसे कुसंस्कारयुक्त तथा भीरु निर्बलहृदय बालक साहस और वीरता का क्या कार्य कर सकते हैं। प्राचीन समय की वीरप्रसविनी मातायें अपने सन्तानों को ऐसे शुभ संस्कारों से युक्त बनातीं थीं कि उनके सन्तान धीरता, साहस और उत्साह आदि गुणों को धारण कर अपने प्राणपरित्याग के द्वारा भी अपने कर्तव्य से पराङ्मुख नहीं होते थे। उदाहरण के लिये आप विदुला आदि स्त्रियों की जीवनी को पढ़िये तथा द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, अभिमन्यु, युधिष्ठिर, अर्जुन और भीम आदि की ओर देखिये कि अपनी वीरप्रसूता माताओं से शुभसंस्कारयुक्त बनाये हुए वे लोग कैसे २ साहस के कार्य कर गये हैं, वर्तमान में इस भारत भूमि में उनके समान कदाचित् ही कोई दृष्टिगत होता होगा, क्या यह

परम दुःख और भारत के दौर्भाग्य का विषय नहीं है ?

ब्रह्मचर्य-सेवन की तो आज दिन जो दुर्दशा हो रही है उसका तो कुछ ठिकाना ही नहीं है, हमारे बहुतसे भाई यह भी नहीं जानते हैं कि ब्रह्मचर्य किस चिड़िया का नाम है और उसका सेवन कैसे होता है, उनको हम बतलाना चाहते हैं कि पूर्ण युवावस्था पर्यन्त मन और इन्द्रियों का दमन कर काम विकार से रहित होकर रज और वीर्य की सर्वथा रक्षा करते हुए जो विद्याभ्यास करना है उसे ब्रह्मचर्यसेवन कहते हैं, पूर्वकाल में पुरुष अधिक से अधिक ४८ वर्ष तक तथा कम से कम २४ वर्ष तक इस नियम का सेवन करते थे और इस से पूर्व स्त्री की ओर आंख उठाकर भी नहीं देखते थे और यह इसलिये कि कहीं काम विकार उत्पन्न होकर ब्रह्मचर्य में बाधक न हो जावे, स्त्रियां भी पूर्व काल में अधिक से अधिक २० वर्ष तक तथा कम से कम १६ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का सेवन कर विद्याभ्यास करती थीं। पूर्वोक्त समय के बीत जाने पर योग्य स्त्री पुरुषों का परस्पर में विवाह संस्कार होता था, ब्रह्मचर्य

की नियत अवधि से पूर्व पुरुषों के लिये धर्मशास्त्र में माता, बहिन और पुत्री आदि के भी पास एकान्त में बैठने का निषेध किया गया है, कारण यही है कि इन्द्रिय-समूह अति बलवान् है, कहीं वह मन को चलायमान न करदे। अतएव पूर्व समय में ब्रह्मचारी जन स्त्रीरहित स्थान में निवास करते थे तथा नगर आदि में निवास करने पर कामोत्पादक सम्भाषण और कथा आदि से सर्वथा विरक्त होकर स्त्री के मुख आदि अङ्गों की ओर दृष्टि तक नहीं डालते थे।

श्री महाराज रामचन्द्रजी की धर्मपत्नी महारानी सीताजी अपने हरणसमय में अपने आभूषणों को अङ्ग से उतार २ कर मार्ग में फेंकती गई थीं, जब श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणसहित सीताजी को वन में ढूंढने को निकले और उनको मार्ग में पूर्वोक्त आभूषण मिले तब उन्हें वे पहिचानने के लिये लक्ष्मणजी को दिखलाने लगे तब लक्ष्मणजी उनसे विनयपूर्वक बोले कि:—

केयूरे नैव जानामि, नैव जानामि कुण्डले।
नूपुरानेव  पादाभिवन्दनात्॥

— अर्थात् हे महाराज ! मातुःश्री श्री सीताजी के मुख आदि अङ्गों का कभी दर्शन न करने से मैं उनके केयूरों को नहीं पहचानता हूं तथा मैं उनके कुण्डलों को भी नहीं पहचानता हूं, हां मैं उनके नूपुरों को अवश्य पहचानता हूं, क्योंकि प्रतिदिन चरणों को नमस्कार किया करता था। देखिये उक्त वाक्य से सिद्ध होता है कि ब्रह्मचारी लक्ष्मणजी मातृतुल्य अपनी भावज की ओर कभी दृष्टि भी नहीं डालते थे। ऐसे सहस्रों उदाहरण हैं, जिनका उल्लेख करना असम्भव है, वर्तमान समय में श्री जैनधर्म में स्वधर्मपरायण श्रीमती महासतियां ब्रह्मचर्यसेवन के नियमों को यथार्थ रीति से पालन करती हैं, उनको शतशः धन्यवाद है।

सत्य पूछो तो मानवजीवनरूपी मकान की नींव ब्रह्मचर्य ही है जैसे कमजोर नींव वाला मकान चिरस्थायी नहीं रह सकता है उसी प्रकार ब्रह्मचर्यरूपी नींव से रहित मानव जीवन रूपी प्रासाद भी अकिञ्चित्कर होता है।

योग्य विवाह की तो इस समय जो कुछ दुर्दशा हुई

है उसका वर्णन करते हुए लेखनी कांपती है तथा कलेजा फटता है। पहिले कह चुके हैं कि पूर्व काल में नियत समय तक ब्रह्मचर्य का सेवन कर योग्य अवस्था होने पर स्त्री पुरुषों का परस्पर विवाह होता था, आज उसके स्थान में गुड्डा गुड़ियों के समान भी बालक और बालिकाओं का विवाह देखा जाता है, जो विचारे यह भी नहीं जानते हैं कि विवाह किस चिड़िया का नाम है। हमारे मारवाड़ी भाइयों ने तो इस विषय में और भी अधिक उन्नति कर नाम प्राप्त किया है कि इनके यहां कहीं २ गर्भस्थ ही बालक और बालिकाओं की सगाई पक्की कर दी जाती है तथा उत्पन्न होने के पश्चात् यथासम्भव शीघ्र ही विवाह कर दिया जाता है। ठीक है, जो काम करना ही है उस में विलम्ब क्यों किया जावे ?

कहीं २ अल्पवय वाले वर के साथ उसकी अपेक्षा अधिक अवस्था वाली कन्या का विवाह होता है, जिसका परिणाम श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज के "सङ्करो नरकायैव" इस वाक्य के अनुसार यही होता है कि वर्णसङ्कर सन्तान

उत्पन्न होकर वंश के लिये नरक का द्वार खोल देते हैं।

कहीं २ हमारे भाइयों में से वृद्धों पर दया करने वाले ऐसे भी भाई हैं कि वे कन्या के भार की अपेक्षा द्विगुण, त्रिगुण, चतुर्गुण या दशगुण तक नक़दानक़द गिनाकर पलितमुख तथा पलितकेश बूढ़े बाबा को स्वकन्या को सौंपकर अपने वृद्धस्नेह के कारण अपनी कुमारी का भी बलिप्रदान कर अपनी देशभक्ति का परिचय देते हैं। परिणाम चाहे कुछ भी हो, इससे उन्हें क्या प्रयोजन है? वह मा बाप को गालियां दे देकर फूट २ कर विलाप करे तो उन्हें क्या? अथवा कुमार्गगामिनी होकर दोनों कुलों को कलंकित करे तो भी उन्हें क्या? वीर पुरुष सुख दुःख की परवा नहीं करते हैं।

अय भारत के सुपूतो! क्या तुम हमारी बात पर ध्यान दोगे? यदि दोगे तो सुनो! तुम्हारी विवेकरहित अनुचित कृति से आज दिन यह भारत विधवाविलापागार बन रहा है, अर्थात् इसमें औरों का तो क्या कहना है; पांच वर्ष तक की विधवा बालिकायें तुम्हारी ओर

देख २ कर आई भरती हैं क्या तुम्हें उन पर तनिक भी तरस नहीं आता है ? क्या लाखों विधवाओं की आह पर आप का पत्थर के समान हृदय तनिक भी नहीं पसीजता ? अपनी दुष्कृति से होती हुई हजारों लाखों भ्रूणहत्याओं और बालहत्याओं को देख क्या तुम्हारा हृदय तनिक भी नहीं काँपता या तुम्हारे नेत्रों से एक भी जलविन्दु नहीं गिरता ? वाह भारत के वीरो ! अपनी वीरता का खूब परिचय दे रहे हो, तनिक तो विवेकशक्ति से और बुद्धि से काम लो और सोचो कि हमें क्या करना चाहिये और हम क्या कर रहे हैं ।

यह तो संक्षेप से योग्य विवाह की कुदशा का वर्णन किया गया, अब विवाहों में जो अत्यन्त हानिकारिणी कुरीतियाँ घुसी हुई हैं उनका कुछ उल्लेख किया जाता है—

(क) हमारे यहाँ ब्याह शादी आदि के समय जीमनवार में पुरसने वाले किराये पर अर्थात् भाड़े के टट्टू बुलाये जाते हैं । वे लोग "मुफ्ती माल दिले बेरहम" की कहावत को चरितार्थ करते हुए

जैसा यह पुरसने का काम करते हैं उसे हमारे सब ही भाई प्रायः जानते हैं. इसका परिणाम यह होता है कि मनों जूठन बचती और फेंकी जाती है, जिस पर भी तुर्रा यह है कि वे पुरसने वाले धन्यवाद के भागी और प्रशंसा स्पद बनते हैं, केवल इतना ही नहीं किन्तु पुरसने वालों के द्वारा सैकड़ों जन अनावश्यकरूप में भी जीमने के लिये बुलाजिये जाते हैं कि जो एक प्रकार से बिलकुल अनावश्यक व्यय होता है।

(ख) वर के श्वसुर गृह में अर्थात् बेटी वाले के घर जीमने के लिये जाते समय अनेक फालतू परिचित जनों को साथ में ले जाने की प्रथा अत्यन्त ही अनुचित है, हां वर के नौकर चाकर आदि जनों का जाना तो उचित ही है, किन्तु हम देखते हैं कि बिलकुल फालतू अनेक परिचित जनों को साथ में लेलिया जाता है, उक्त जनों में प्र.प्रा हीनजाति के लोग भी (लोहार, कुम्हार और सुँथार

आदि) देखे जाते हैं । प्रथम तो हीनजाति के लोगों को साथ में लेजाना तथा उन्हें पास में बिठला कर जिमाना ही जाति के लिये एक प्रकार से अवहेलना का विषय है दूसरे ऐसा करना एक प्रकार से लौकिक व्यवहार से भी भद्दा दीखता है। फिर देखिये कि फालतू जनों की संख्या भी वास्तविक रूप में जीमने वालों की संख्या से ड्योढ़ी और दूनी तक हाजाती है, जैसे असली जीमने वाले यदि सौ मनुष्य हों तो फालतू लोग डेढ़ सौ या दो सौ तक हो जाते हैं । ऐसा होने से बेटी वाले को लगभग वास्तविक खर्च से तिगुना खर्च करना पड़ता है, अर्थात भोजन सामान की तैयारी तिगुना करनी पड़ती है, इसके अतिरिक्त पुरसने वाले और पानी पिलानेवाले आदि जनों का तिगुना खर्च भेजना पड़ता है। इस खर्च के अतिरिक्त स्थान, बिछायत, जलप्रबन्ध, पाटे, थालियां इत्यादि के प्रबन्ध में पूरी दिक्कत उठानी पड़ती है - भला विचारने की बात है कि फालतू जनों

इनके लिये जिनुने स्वयं के मार्ग को उदारता और दिखाव का सामना करना कोई बुद्धिमानी की बात है या कोई नेकनामी का विषय है ? विचार कर देखा जाये तो यह पद्यों का दोष है, जो स्वयं ऐसा करते और दूसरों को करने देते हैं। कारु लोगों को अपने साथ में बेटी वाले के घर पर लेजाने तथा उनको पास में बिठलाकर जिमाने से एक प्रकार से स्पर्शादि के द्वारा अशुचिदोष भी लगता है, जो कि घृणा का स्थान है। उक्त लोगों को ब्याह शादी की खुशी में यदि जिमाना ही हो तो दूसरे या तीसरे दिन घर पर जिमाया जा सकता है। हमारी समझ में यदि कारु लोगों को तथा अन्य फालतू जनों को (यदि आवश्यक ही हो तो) परोसा देने का ही प्रबन्ध कर दिया जावे तो ठीक है।

४) लिखते हुए खेद होता है कि हमारे मारवाड़ी भाइयों में जीमने का कोई समय नियत रूप में निश्चित नहीं किया जाता है, इससे प्रायः सब को

बड़ी तकलीफ उठानी पड़ती है तथा लोगों का बहुत सा समय भी व्यर्थ नष्ट होता है। ;

) हम देखते हैं कि जीमनवार हो जाने के पश्चात् (एक दो दिन पीछे) आने वाले जनों में से ही दश दश बीस बीस आदमी अपनी २ गुवाड़ में पाटों पर बैठ कर प्रायः जीमन की स्तुति वा निन्दा किया करते हैं, यह अत्यन्त खेद का विषय है, भला जीमन की स्तुति और निन्दा क्या ? जीमन की स्तुति करना तो डोम, याचक और भिखमंगों का काम है, क्योंकि वे लोग जीम जीम कर सराहना करते हैं, अब रही निन्दा की बात सो-खाद्य द्रव्य वा भोजन की निन्दा करना धर्मशास्त्र से निषिद्ध है, इसलिये कोई भी बुद्धिमान् पुरुष आहार द्रव्य की निन्दा नहीं करता है, सत्पुरुष को ऐसा करना शोभा भी नहीं देता है, ऐसा करने से मानुषी धर्म का गौरव घटता है, किन्तु सभ्य पुरुष को खाद्य पदार्थ के विषय में निन्दा स्तुति सम्बन्धी एक शब्द भी अपने घर में भी

नहीं निकालना चाहिये, फिर भला पाटों पर गुवाड़ में बैठ कर दश बीस मनुष्यों के बीच में ऐसा करना कितना लज्जास्पद विषय है, यदि कोई शिष्ट पुरुष इस व्यवहार को देखे तो यही समझे और कहे कि यह महा अशिक्षित जाति है।

(८) विवाहादि मङ्गल समय में प्रथम तो गीत गाने वाली स्त्रियाँ किराये पर बुलाई जाती हैं, यह प्रथा अन्यत्र कहीं नहीं है। भला हम पूछते हैं कि "गाना और रोना क्या वास्तव में किराये से हो सकता है" यह तो आन्तरिक विषय है कि अपने ही चित्त में आनन्द और उमंग होने से गाना और उद्वेग होने से रोना होता है। कहते हुए हँसी आती है कि "गाना और किराये का" वाह वाह खूब प्रथा है! इस पर भी तुर्रा यह है कि किराये पर आई हुई एवं गाने वाली स्त्रियाँ विधवा होती हैं। जिनको शास्त्रों में "दुर्भगा" नाम से कहा गया है। सच पूछो तो गाना दुर्भगा का काम ही

नहीं है, किन्तु सुभगा का काम है, भला विवाहादि मंगल-समय में किराये पर दुर्भगाओं को बुलाकर गवाना क्या उपहासास्पद और लज्जास्पद विषय नहीं है? मङ्गल समय में स्वयमेव अमङ्गलकारी कार्य करना कितनी मूर्खता की बात* है। यदि ऐसा न करके जातीय स्त्रियाँ गाने के लिये आवें या बुलाई जावें तो आपस में प्रेम का सञ्चार हो तथा स्नेह की वृद्धि हो (कि जिसका परस्पर में होना अत्यावश्यक है), आश्चर्य तो यह है कि पञ्चायती का बीड़ा उठाये हुए पञ्चों का इस ओर तनिक भी ध्यान नहीं जाता है, ध्यान जावे कहाँ से? पञ्चायती तो उनके गले में न डक ही गई है, सभी पञ्चायत तो आजकल घर की स्त्रियों के आधीन है, ऐसी दशा में बेचारे पञ्चों का क्या अपराध है?

---

* किराये पर गाने वाली तथा विजय स्त्रियों का बुलाना एवं भांड पर पुरसते वालों को बुलाना यह प्रथा केवल हमारे बीकानेर में ही है इस प्रथा को छोड़कर अन्य कुरीतियां प्रायः सर्वत्र मारवाड़ में हैं।

वर्तमान समय में एक पत्नीव्रत तथा एक पतिव्रत के विषय में तो हमें कुछ लिखने का साहस ही नहीं होता है। क्या लिखें, यह भी भय है कि हमारे भाई कहीं हमसे रुष्ट न हो जावें, इसलिये मौनावलम्बन ही ठीक है।

अब रहा उचित व्यय, इस की तो दुर्दशा करने में हमारे भाइयों ने बाकी में भी कसर नहीं रक्खी है। ठीक है जब धन है तब भला निर्धनियों के साथी उचित व्यय का प्रवेश भाग्यवानों के यहां कैसे हो सकता है? भाग्यवानों को ईश्वर ने धन इसीलिये दिया है कि वे उचित व्यय का तिरस्कार कर उसे परास्त करें, नहीं तो धन की शोभा ही क्या है? जैसे प्रकाश के सामने अन्धकार के रहने का अधिकार नहीं है, ठीक इसी प्रकार भाग्यवानों के साथ बेचारे उचित व्यय को रहने का अधिकार प्राप्त नहीं है, विवाहादि अवसरों पर केवल जीमणवार आदि में तीस २ या चालीस चालीस हज़ार रुपया तक जो खर्च किया जाता है; हमने माना कि यह रकम बड़ी है; परन्तु सोचो तो सही कि बड़ी रकम होने पर भी यह रुपया तो परिमित है; किन्तु

परम सौभाग्यशाली मोदकप्रिय भोजनभट्टों आदि से जो वाह वाह बधाई और धन्यवाद मिलता है चाहे वह दो घड़ी का ही क्यों न हो, उसका आनन्द अपरिमित है। क्या यह आनन्द उचित व्यय की सलाह मानने से कभी प्राप्त हो सकता था ? नहीं, कभी नहीं, यदि ऐसे अवसरों पर उचित व्यय की सलाह मानी जावे तो उलटी अपकीर्ति हो, कि अमुक बड़ा कृपण है, ऐसे अवसर पर भी धन का मुंह देखता है, धन तो आता और जाता है, परन्तु बेटा बेटी के परणाने का सौभाग्य बड़े पुण्य से मिलता है, यदि कमनसीब उचित व्यय की शिक्षा मानी जावे तो सर्वजन प्यारी, नहीं २ रामप्यारी के हाव भाव कटाक्ष अपाङ्गदृग् और मधुर स्वरों से हजारों आदमियों को जो आनन्द प्राप्त होता है वह कैसे होसके ? यदि मक्खीचूस उचित व्यय की नसीहत मानी जावे तो हजारों रुपयों का व्यय कर जो आतिशबाजी छुटाई जाती है, फुलवाड़ी लुटाई जाती है तथा परम सुहावने बाजों के साथ में अपूर्व छटा वाली चन्द्रेली निकाली जाती है और जिसे देखने के लिये सारा नगर दौड़ता है, भला उसका आनन्द कैसे मिले ?

और कोई कैसे जाने कि अमुक के बेटे वा बेटी का ब्याह विवाह है। वाह, वाह, यह ब्याह ही क्या जिसे कोई न जाने, ब्याह शादी तो उजागर ही अच्छे लगते हैं, उचित व्यय तो अपनी मूर्खता से यह सलाह देता है कि थोड़ा खर्च करो, भला थोड़े खर्च में उपयुक्त आनन्द कभी प्राप्त हो सकता है ? और ऊपर लिखित प्रसिद्धि कभी होसकती है ? सोचने की बात है कि यदि ऐसे ही मौकों पर थैलियों के मुंह न खोले जावें तो फिर क्या मरघट में उनके मुंह खोलने का मौका मिलेगा ? बेचारा उचित व्यय तो जितनी उस में बुद्धि है उतनी बात करता है, यह तो कहता है कि इतनी बड़ी रकम वेश्यानृत्य, आतिशबाजी, फुलवाड़ी, चन्दोली और जीमनवार में न लगाकर किसी परोपकारी कार्य में लगाओ, देशोद्धारक कार्य में लगाओ, विद्यालय में लगाओ और दीनपालन में लगाओ तो तुम्हारा चिरस्मरणीय नाम रहेगा, सभ्य समाज में तुम्हारा गौरव होगा, पुण्य का लाभ होगा तथा उसके द्वारा तुम्हें स्वर्गीय सुख की प्राप्ति होगी, इत्यादि, वाह वाह, खूब कही ! देखो यह उलटी शिक्षा !

पहिले अपना उपकार किया जाता है, पीछे परोपकार हो सकता है, फिर परोपकार की जरूरत ही क्या है ? कर्मानुसार जो जैसे हैं वे वैसे हैं उनका उपकार क्या ? देशोद्धार का विषय तो नितान्त निर्मूल है, देश के उद्धार की जरूरत ही क्या है ? क्या देश वा समाज वा उनके भाई गड्डे में गिरे हैं जो उनका उद्धार करें ? अथवा देश पर क्या कोई ऋण है जिसका उद्धार करें ? संवत् ५६ में सैकड़ों हजारों जीव अन्न के बिना मरगये थे जब गेहूं का भाव आठ सेर का था, अब चारपांच सेर का भाव होने पर भी लोग गुलछर्रे उड़ा रहे हैं, फिर देश का उद्धार कैसा ? विद्यालयों को दान देने के विषय में जो कहा, सो विद्यालयों में तो पैसा लगाना बिलकुल व्यर्थ है जिन के भाग्य में विद्या लिखी ही नहीं वे कहां से पढ़ सकेंगे ? तथा जिनके भाग्य में पढ़ना लिखा है वे विना यत्न के आकर पढ़ जाते हैं, फिर विद्या पढ़ने से ही क्या लाभ है ? सैकड़ों पण्डित विद्वान् और मास्टर धनवान के द्वार पर आकर "सेठजी" और "सेठ-साहब" कहकर उन्हें सम्बोधन करते हैं तथा सेठजी

के नज़र उठाकर देखने और बात करने में अपने को
कृतार्थ समझते हैं. ऐसी दशा में विद्यार्थियों को दान देना
छोड़ो अथवा दानशालिन का उपदेश, यह तो दुरुपदेश
मात्र है, भला सोचो तो सही कि जो कर्मानुसार दीन
हीन हैं उनका पालन कैसा ? यदि उनका पालन कर ईश्व-
रीय नियम को तोड़ा जावे ? चिरसमय तक नाम रहने
की जो बात कही वह तो नितान्त निर्मूल है तथा उसे रख-
कर ही धनवानों को क्या करना है ? धनवानों की चिर-
समय तक नाम रहने की यादगारी के लिये तो उनका
पूर्वोक्त कार्य ही पर्याप्त है, सभ्य समाज में गौरव होने की
जो बात कही, सो उस गौरव से द्रव्यवान् क्या लाभ
उठावेंगे ? सम्भव है कि उक्त सज्जन मानने से चन्द अख़-
बार वाले अपने पत्रों के कालम रंग डालें, सो उन्हें पूछता
ही कौन है ? अख़बार तो जहां तहां पैरों तले कुचले फिरते हैं
तथा नोन मिर्च बेचने वालों के पुड़िया बांधने के काम में आते
हैं, उनकी क़दर इसी व्यवहार से समझ लीजिये। पुण्य लाभ
का जो उपदेश दिया तो वह प्रलोभनमात्र है, पुण्यलाभ तो
उन्हें स्वयं ही प्राप्त है. जो वे इतनी सम्पत्ति के स्वामी हैं तथा

हां में हां मिलानेवाले उनके द्वारा सब तरह से आनन्द लूटते और उनकी वाह २ करते हैं। इससे अधिक उन्हें और पुण्य-लाभ क्या हो सकता है ? अब रह गई स्वर्गीय सुख की प्राप्ति, सो उसे किसने देखा है ? यदि किसी ने देखा हो तो बतलावे कि वह कैसा है ? या स्वर्ग से उनके पास पत्र भेजे तो उन्हें विश्वास हो कि स्वर्गीय सुख भी कोई वस्तु है और उसके पाने का यह उपाय है, यदि वे उसे मान भी लें कि स्वर्गीय सुख कोई चीज़ है तो भी क्या यह बुद्धिमत्ता का कार्य्य कहलावेगा कि उपलब्ध सुख को छोड़ भविष्यत् सुख की आशा की जावे। ऐसा करना दुराशामात्र है। नीतिज्ञों का कथन है कि-"कल मिलनेवाले एक की अपेक्षा आज का आधा ही अच्छा है" कहिये ऐसी दशा में विचारे द्रव्यपात्र उचित व्यय के उपदेश को कैसे मान सकते हैं ? यह भी विचार के योग्य बात है कि संसार में धन पाकर यदि वे विचारे आनन्दप्रेमी जन उसके द्वारा आनन्द न लूटें तथा लोगों के द्वारा वे वाह २ के भागी न बनें तो धन से उनका प्रयोजन ही क्या निकला ? ऐसी दशा में हमें यह कहने का साहस नहीं होता है कि द्रव्य

पात्रों का उचित रूप का परित्याग करना अनुचित है, क्योंकि इन्द्रगणों का कोई काम अनुचित नहीं होता, कारण यह है कि नीतिशास्त्र के कथन के अनुसार यह मानना पड़ता है कि जिसके पास धन है वही कुलीन है, जिसके पास धन है वही पण्डित, बड़ा और दर्शनीय है। क्योंकि सब गुण कञ्चन का आश्रय लेते हैं, बाबा तुलसीदासजी भी ने लिख गये हैं कि "समरथ को नहिं दोष गुसाईं" ऐसी दशा में सज्जनमात्र गोरा स्वरूप की शिक्षा न मानेंगे तो आनन्दप्रेमी दुष्टपात्र जनों पर यदि कुछ आक्षेप करें तो यह उनकी इच्छा है। इत्यलम् ॥



२—कर्त्तव्य-पालन

प्रिय मित्रगण !

कहने की आवश्यकता नहीं है कि संसार में उत्पन्न प्रत्येक जीव प्राकृतिक नियम से ही सुखप्राप्ति की और दुःखनिवृत्ति की अभिलाषा रखता है। इसी नियम के अनुसार मानवजाति भी सर्वदा सुखप्राप्ति की अभिलाषा करती है तथा दुःखों की निवृत्ति को चाहती है, परन्तु यह बात मानी हुई है कि प्रत्येक वस्तु की प्राप्ति के लिये धर्मशास्त्र में जो पृथक् २ नियम निर्धारित किये गये हैं उन्हीं के अवलम्ब से अर्थात् तदनुसार वर्ताव करने से तथा विरोधी साधनों के परित्याग से मनुष्य उस वस्तु को प्राप्त कर सकता है, यदि कोई मनुष्य उन नियमों का अनुसरण न कर उसके विरोधी नियमों वा साधनों का अवलम्बन करे तो उसे उस वस्तु की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती है, सर्वतन्त्र सिद्धान्त से यह निश्चित है कि

मनुष्य को धर्म के सेवन से सुख की और अधर्म के सेवन से दुःख की प्राप्ति होती है, धर्मसेवन का ही दूसरा नाम कर्त्तव्यपालन है, अब इस कथन से यह सिद्ध होगया कि प्रत्येक मुकाबिले में मनुष्य को अधर्माचरण का परित्याग कर धर्माचरण अर्थात् कर्त्तव्य का पालन करना चाहिये।

धर्म और अधर्म का निरूपण करने से पहिले यहां पर हम इतना लिख देना आवश्यक समझते हैं कि ईश्वर ने मनुष्यमात्र को एक ऐसी शक्ति दी है कि जिससे वह शुद्ध विचार के द्वारा स्वयमेव कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विषय में बहुत कुछ विवेक कर सकता है। कर्त्तव्य से हमारा अभिप्राय उन कर्मों से नहीं है कि जिनका परिणाम प्रत्यक्ष में सुखदायक हो, न अकर्त्तव्य से अभिप्राय उन कर्मों से है कि जिनका परिणाम प्रत्यक्ष में दुःखदायक हो। देखो, चोरी और मनुष्यवध आदि बहुतसे काम यदि राजभय न हो तो बहुधा बहुत ही सुखदायक और लाभकारक हो सकते हैं; किन्तु शास्त्र और विद्वानों के मत के

अनुसार अकर्त्तव्य ही हैं। इसी प्रकार बहुत से काम जो प्रत्यक्ष में लाभदायक नहीं कहे जा सकते हैं परन्तु वास्तव में कर्त्तव्य हैं जैसे दान आदि कर्म। हमारा अभिप्राय इन कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य कर्मों से यही है कि जो कर्म धर्म-शास्त्र में साधारण रीति से विहित वा निषिद्ध हों, यह भी स्मरण रखना चाहिये कि कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विचार की शक्ति जो हम को दीगई है वह कर्मों के प्रत्यक्ष गुण वा दोष पर निर्भर नहीं है, विद्या और तर्कशास्त्र के द्वारा उसकी पुष्टि अवश्य होती है, मन की चञ्चलता और राग द्वेष आदि की प्रबलता के कारण यद्यपि निषिद्ध कर्मों का व्यवहार तुच्छ बुद्धि वाले सद्विचाररहित पुरुषों से होता ही रहता है: परन्तु यह निश्चित बात है कि अन्तरात्मा का उपदेश उन निषिद्ध कर्मों के अनुष्ठान से पहिले उनको भी हो ही जाता है; अर्थात् लज्जा, शंका और भय का सञ्चार उनके हृदय में अवश्य हो ही जाता है, हां उस उपदेश का मानना या न मानना उनके आधीन है। देखो! चोर जब चोरी करने का विचार करता है तब उसी समय एक गुप्तवाणी उसके हृदय में पहिले ही कह देती है कि

यह कर्म अच्छा नहीं है, अब यदि उसका मन विकाररहित है तो वह इस उपदेश को मान लेता है, यदि मन शुद्ध नहीं है और धन के लोभ की प्रबलता हृदय में समाई हुई है तो अन्तरात्मा के उस उपदेश का वह उल्लङ्घन कर देता है और उसका मन अपने पक्ष की पुष्टता के लिये उस से अनेक मिथ्या कल्पनायें कराता है, इस प्रकार बारंबार उसका उल्लङ्घन करने से आत्मा का उपदेश भी जिसको प्राकृतिक नियम उसे सद्धर्म पर चलाने के लिये करता है, मन्द हो जाता है, यहांतक कि जब मनुष्य का मन बहुत ही मलीन हो जाता है तब आत्मा के इस उपदेश का एक शब्द भी उसे सुनाई नहीं पड़ता है, इसी भांति कुछ दिनों तक जब मनुष्य इन्द्रियों के वेग को रोक कर आत्मा के उपदेश के अनुकूल कार्य करने में संलग्न रहता है तब अभ्यास होते २ उस में कुछ ऐसी दैवीशक्ति उत्पन्न हो जाती है कि मन और इन्द्रियों को रोक कर आत्मा की व्यवस्था के अनुसार चलने में उसे कुछ भी कष्ट या परिश्रम नहीं होता है और न इन्द्रियों में इतनी प्रबलता ही रहती है कि वे मन को उद्विग्न कर सकें। इस-

लिये यह विचार उचित नहीं है कि अकर्त्तव्य के आचरण से उस प्राकृतिक शक्ति का सर्वथा नाश हो जाता है, देखो ! कोई कितना ही पापात्मा क्यों न हो, यदि वह किसी समय अपने चित्त को स्थिर कर तथा राग और द्वेष से रहित होकर अपने पहिले किये हुए कर्मों का विचार करे तो अवश्य उसे अपने पूर्वकृत अनुचित कर्मों पर पश्चात्ताप हो और वह उन्हीं कर्मों को कर्त्तव्य माने कि जिन को ऐसे विचार के समय मन की एकाग्र दशा में सब लोग कर्त्तव्य कर्म मानते हैं, यद्यपि यह सम्भव है कि अविद्या के कारण कर्मों के दोष और गुण उस पर प्रकट न हों तथापि यह सहज में कर्त्तव्य को कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को अकर्त्तव्य अवश्य समझेगा। सिद्धान्त यह है कि कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की विवेकशक्ति प्रत्येक मनुष्य को प्राकृतिक नियम से उपलब्ध है तथा जो कर्म उस विवेकशक्ति के अनुकूल होते हैं वे ही कर्त्तव्य कर्म हैं कि जिन के करने की आज्ञा शास्त्रों में दीगई है तथा जो कर्म पूर्वोक्त विचारशक्ति के प्रतिकूल हैं वे ही शास्त्र से निषिद्ध और अकर्त्तव्य अर्थात् पापकर्म कहलाते हैं । इसलिये यह बात सिद्ध होगई

कि धर्म का अनुष्ठान और अधर्म अर्थात् पाप का परित्याग मनुष्यमात्र का मुख्य कर्त्तव्य है। इसलिये धर्म और अधर्म का भेद जानने में हमें अपनी प्रकृति को इस प्रकार सुधारना चाहिये कि हमारी विवेकशक्ति में कोई अड़चल न हो सके, यह भी स्मरण रखना चाहिये कि केवल पारमार्थिक विषय में ही नहीं किन्तु लौकिक व्यवहार में भी विवेकशक्ति का अनुसरण करना अत्यन्त उचित है, योगशास्त्र में जो परमार्थसाधन के नियम लिखे गये हैं उनका भी प्रयोजन यही है कि मन और इन्द्रियों के निग्रह के द्वारा शान्ति और स्थिरता को अवकाश मिले, क्योंकि शान्ति और स्थिरता के बिना कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के भेद में विवेकशक्ति का संचार होना असम्भव है।

इस प्रकार कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विषय में स्वभावसिद्ध विवेकशक्ति के विकाश का कुछ उल्लेख किया गया, अब शास्त्रीय विषय को लेकर संक्षेप से यह कथन किया जाता है कि वास्तव में कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य क्या हैं ? अभी कहा जा चुका है कि धर्म का अनुष्ठान और अधर्म का

का प्रयोग मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है, अतएव यहां पर शास्त्रीय सिद्धान्त से भी धर्म और अधर्म का कुछ विवेचन कर देना आवश्यक है।

परम प्रसिद्ध धर्मशास्त्रप्रणेता श्रीमनुजी महाराज ने धैर्य, क्षमा, मन का निग्रह, चौर्यपरित्याग, शुद्धि, इन्द्रियों का दमन, बुद्धि को निर्मल रखना व बढ़ाना, विद्या का अभ्यास करना, सत्य भाषण करना तथा क्रोध का परित्याग करना ये दश धर्म के लक्षण कहे हैं, इन लक्षणों का अति संक्षेप में कुछ विवरण भी कर देना उचित है—

विपत्ति अथवा कष्टदशा में भी चित्त को शान्त रखना अर्थात् उद्विग्न न होना तथा अपने कर्त्तव्य को न छोड़ना धैर्य कहलाता है।

सहनशीलता का नाम क्षमा है।

मन में बुरे संकल्पों को उत्पन्न न होने देना, यदि

उत्पन्न होगये हों तो शीघ्र ही उनको दूर कर देना, इस को मनोनिग्रह कहते हैं।

दूसरे की किसी वस्तु का बलात्कारपूर्वक अथवा उसकी आज्ञा के विना ग्रहण न करना, इस का नाम चौर्यपरित्याग है।

शुद्धि दो प्रकार की है बाहरी तथा भीतरी, बाहरी शुद्धि जलादि के द्वारा होती है तथा भीतरी शुद्धि सत्य, ज्ञान, विद्या और तप से होती है।

दशों इन्द्रियों को अपने २ विषयों में अनुचित प्रवृत्ति करने से रोकना इन्द्रियदमन कहलाता है।

निरन्तर शास्त्र के अभ्यास, स्थिरता, सत्सङ्ग और हितोपदेशश्रवण आदि के द्वारा बुद्धि की वृद्धि करना।

यथेष्ट समय तक ब्रह्मचर्य को रखकर तथा मन को स्थिर कर योग्य सद्गुरु के द्वारा सत्यशास्त्रों का अभ्यास करना विद्याभ्यास कहलाता है।

श्रवण वा अनुभव के द्वारा जो विषय मन में स्थित हो उसको उसी प्रकार वाणी से कहना और करना, सत्य कहलाता है।

क्रोध का हेतु होने पर भी क्रोध न करना, क्रोध-परित्याग कहलाता है।

धर्म के पूर्वोक्त लक्षणों का यहां पर अति संक्षेप से स्वरूपमात्र लिखा गया है, इनका विस्तार और फल आदि शास्त्रों में देखना चाहिये।

धर्म के पूर्वोक्त दश लक्षणों का समावेश हमारे जैन-शास्त्र में अहिंसा, संयम और तप इन तीन ही विषयों में किया गया है। अर्थात् इन्हीं तीनों विषयों में धर्म के पूर्वोक्त दशों लक्षण घटित हो जाते हैं, जैसा कि श्रीदशवैकालिकजी में कहा है कि—

धम्मो मङ्गलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवावि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥

अर्थात् धर्म उत्कृष्ट मङ्गलरूप है और ....

संयम और तपरूप है। जिस मनुष्य का मन धर्म में सदा तत्पर रहता है उस पुरुष को देव भी नमस्कार करते हैं।

धर्म के पूर्वोक्त अहिंसा आदि तीनों अङ्गों का विवेचन हम यहां पर अपने भाइयों के परिज्ञान के लिये अति संक्षेप में करते हैं—

मन, वचन और कर्म से किसी प्राणी के साथ द्रोह और वैर को न करना, किसी के अनिष्ट को मन, वचन और शरीर के द्वारा न करना तथा किसी जीव का प्राणहरण न करना, इस का नाम अहिंसा है।

दशों इन्द्रियों तथा मन को निकृष्ट प्रवृत्ति और बुरे विषयों से हटाकर स्थिर तथा शान्त करना, उनके वेग को रोकना तथा शुभ और कल्याणकारी विषयों में उन्हें प्रवृत्त करना, एवं क्रोधादि को जीतना, इसको संयम कहते हैं।

शीत उष्ण, सुख दुःख, भूख प्यास, मान अपमान तथा कीर्ति निन्दा, इत्यादि द्वन्द्वों का सहन करके भी अपने कर्त्तव्य अर्थात् धर्म का परित्याग न करना, इसका नाम तप है।

है। अहिंसा के सेवन से सब प्राणी मनुष्य के अनुकूल बन जाते हैं। अर्थात् कोई भी उसके साथ वैर विरोध वा विरुद्धाचरण नहीं करता है, ऐसी दशा में किसी के द्वारा भी उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचता है तथा वह सब प्राणियों को अपने तुल्य देखता है और सब प्राणी भी उसे अपने तुल्य देखते हैं तथा उससे सब प्राणियों का उपकार होता है और सब प्राणी उसका उपकार करते हैं किन्तु जो मनुष्य इस अहिंसा देवी की उपासना नहीं करता है वह दोनों लोकों में दुःख का भागी होता है।

मन और इन्द्रियों के निग्रह विना तो मनुष्य किसी कार्य के योग्य ही नहीं बन सकता है। देखो जिसका मन चंचल और विषयासक्त होता है वह मनुष्य प्रतिदिन असत्कर्मों के सेवन के द्वारा अधोदशा को प्राप्त होता जाता है, मन की चंचलता उन्माद वा भूत के समान मनुष्य पर सवार होकर उसे विवेकरहित कर देती है, फिर उसकी शुभकार्य में कदापि प्रवृत्ति नहीं होती है, यह मन का निग्रह अभ्यास और [illegible] हो सकता है, इसी प्रकार जब मनुष्य

की इन्द्रियाँ स्वाधीन अर्थात् वश में न रहकर विषयों में आसक्त होती हैं तो मनुष्य विषयलम्पट होकर विनष्ट हो जाता है, यह इन्द्रियसमूह ऐसा बलवान् है कि विद्वान् और विवेकी मनुष्य की भी विवेकशक्ति को अवसर पाकर समूल नष्ट कर देता है। शास्त्रकारों ने कहा है कि "श्रोत्र इन्द्रिय के विषय में आसक्त होके मृग अपने प्राणों को गमाता है, स्पर्शेन्द्रिय के विषय में फंस कर मदोन्मत्त हाथी बन्धन को प्राप्त होता है, नेत्रेन्द्रिय के विषय में संलीन होकर पतंग दीपे पर गिर कर अपने प्राणों को न्योछावर करता है, जिह्वा-इन्द्रिय के विषय में फंस कर मछली अपने प्राणों का परित्याग करती है तथा नासिका इन्द्रिय के विषय में फंस कर भौंरा प्राणविहीन हो जाता है। इस प्रकार एक एक इन्द्रिय के विषय में भी फंस कर जब उक्त जीव अपने प्राणों को गमाते हैं तो मनुष्य के पास तो उक्त पाँचों इन्द्रियां विद्यमान हैं, उसे तो अत्यन्त ही सावधान रहना चाहिये।

महाभारत में कहा है कि "मानव-जीवनयात्रा में

शरीर रथ के समान है, आत्मारूपी स्वामी उस पर विराजमान है, उस रथमें इन्द्रियां घोड़ों के समान हैं, मन लगाम के समान है तथा बुद्धि सारथि के समान है" सत्य है जबतक बुद्धिरूपी सारथि सावधान रहकर मनरूपी लगाम को अच्छी तरह से न सँभाले रहे तबतक इन्द्रियरूपी घोड़े काबू में नहीं रह सकते हैं और उनके वश में न रहने से आत्मा अपनी जीवनयात्रा को कदापि पूर्ण नहीं कर सकता है।

धर्म का तीसरा अंग जो तप कहा गया है, उसके विषय में भी जानलेना चाहिये कि जो मनुष्य पूर्वोक्त द्वन्द्वों का सहन कर भी अपने कर्त्तव्य को नहीं छोड़ता है, वही दोनों लोकों के सुखों का अधिकारी होता है, किन्तु जो मनुष्य मानापमानादि द्वन्द्वों का सहन न कर अपने कर्त्तव्य से पराङ्मुख होजाता है वह अपने जीवन की सफलता को सर्वथा विनष्ट कर देता है। देखिये श्रीरामचन्द्रजी, राजा हरिश्चन्द्रजी तथा पाण्डव आदि महानुभावों ने कितने कष्ट सहे परन्तु अपने कर्त्तव्य से ने निक

नहीं डिगे, डिगते कैसे ? उनके हृदयपटल पर तो यह वाक्य लिखा हुआ था कि "न भवति महिमा विना विपत्तेः" अर्थात् स्वकर्त्तव्य-पालन समय में उपस्थित हुई विपत्ति का सहन किये विना मनुष्य की महिमा नहीं होती है। इसीलिये शास्त्रकारों का उपदेश है कि "प्राणों का परित्याग होने पर भी धर्म को नहीं छोड़ना चाहिये"। कहने में अत्युक्ति न होगी कि जो तपस्वी महानुभाव होते हैं वे विपत्ति समय में पूर्वापेक्षा और भी अधिक उत्साह से धर्माराधन करते हैं, सत्य है कि कर्पूर अग्नि में जलाने के समय तथा चन्दन घिसने के समय और भी अधिक सुगन्धि देता है।

यहां पर प्रसङ्गानुसार यह भी बतला देना आवश्यक है कि पूर्वोक्त कर्त्तव्यपालन के लिये अनित्यभावना, निरभिमानता तथा संकल्पत्याग, इन तीन साधनों की बड़ी भारी आवश्यकता है। संसार, संसारवर्त्ती पदार्थ और शरीर के क्षणभंगुर होने के विचार को सर्वदा हृदय में रखने को अनित्यभावना कहते हैं, सांसारिक सामग्री तथा ऐश्वर्य को प्राप्त कर अपने को बड़ा न समझना तथा उनमें आसक्ति को न करना, इसका नाम निरभिमानता है तथा सांसारिक

भोगों, सुखों और कार्यों के लिये पहिले से ही अनेक प्रकार के संकल्पों के न बांधने को सङ्कल्पत्याग कहते हैं।

इन में से प्रथम साधन की प्राप्ति के लिये नीचे लिखे वाक्यों का सर्वदा मनन करते रहना चाहिये:—

(क) ये सांसारिक विषय चाहें मनुष्य के साथ चिरकाल तक रहें तो भी एक दिन ये अवश्य चले जावेंगे, इनके वियोग में कोई सन्देह नहीं है, जो मनुष्य इन्हें अपनी इच्छा से छोड़ देता है उसे शान्तिसुख मिलता है, किन्तु ये विषय जिस मनुष्य को बलात्कार छोड़ते हैं उसका हृदय पश्चात्तापरूपी अग्नि से सर्वदा जलता रहता है।

(ख) धन पैर की धूलि के समान है, युवावस्था पर्वत से गिरने वाली नदी के वेग के समान है, आयु जल के बिन्दु के समान चंचल है, जीवन फेन के समान है, मनुष्य के लिये धर्म ही स्वर्ग के फाटक को खोलने वाला है, उस धर्म का जो मनुष्य सेवन नहीं करता

है वह मनुष्य बुढ़ापे में शोकरूपी अग्नि से जलता है और परलोक में अनेक यातनाओं का सहन करता है।

(ग) यदि अनित्य और मल से भरे हुए शरीर के द्वारा मनुष्य को सर्वदा स्थायी और निर्मल यश मिलजावे तो मानों उसे सब कुछ मिल गया।

(घ) एक धर्म ही मरने पर मनुष्य के साथ जाता है, और सब पदार्थ तो शरीर के साथ में ही नष्ट हो जाते हैं।

(ङ) बड़े बड़े प्रतापी दुर्धर्ष महानुभावों का भी साथ इन सांसारिक पदार्थों ने न दिया तो ये मेरा साथ क्या देंगे।

(च) यदि सांसारिक पदार्थों और विषयों में कुछ भी तत्त्व होता तो बड़े २ महानुभाव, तपस्वी, योगी और साधु महात्मा इनका परित्याग कर वन में देवाराधन के लिये न जाते।

दूसरे साधन की प्राप्ति के लिये नीचे लिखे वाक्यों को चित्तपटल पर लिख लेना चाहिये:—

(क) जिन महानुभावों के पास अप्सराओं के मद का दलन करने वाली सैकड़ों कामिनियां थीं, "जी हजूर" कह कर आज्ञा माननेवाले नौकर, बड़े२ मण्डलाधिपति थे, जिनके द्वार पर मन्दोन्मत्त गजराज मेघवत् गर्जना करते थे और जिनकी सेना में चंचल घोड़ों का नृत्य होता था, नेत्रों के बंद होने पर पूर्वोक्त महानुभावों की भी सामग्री जब स्वप्नवत् विलीन होगई तो उनके सामने मेरी क्या गिनती है, मेरे पास क्या है और आंखें बन्द हो जाने पर मेरे पास क्या रहेगा?

(ख) सुवर्ण-लङ्काधिपति रावण और दुर्योधन सरीखों का भी जब मद से नाश होगया तो मैं किस घास का मद करूं मेरे पास क्या है और कब तक रहेगा?

(ग) विवेकशक्ति, सद्विचार और धर्मनिष्ठा रूप शुद्ध

को समूल नष्ट करने के लिये अभिमान नदी-वेग के समान है।

तीसरे साधन की प्राप्ति के लिये मनुष्य को नीचे लिखे वाक्यों को अपने हृदय-पट्ट पर अङ्कित कर लेना चाहिये:-

(क) एक भौंरा परागरस पाने के लिये कमल के गर्भ में बैठा था, अचानक सन्ध्या पड़ गई, सूर्य अस्त होगया और कमल का मुख बन्द होगया, तब भौंरा सोचने लगा कि खैर, रात्री बीतेगी, सुन्दर प्रातःकाल होगा, सूर्य का उदय होगा तथा सब कमल खिलेंगे और मैं उड़ २ कर अनेक कमलों के परागरस का पान करूंगा, कमल के अन्दर बैठा हुआ भौंरा जब इन बातों को सोच ही रहा था कि इतने में एक हाथी आया और उसने समूचे कमल को उखाड़ कर अपने मुख में रख लिया यही दशा भविष्यत् के मनोरथों के बांधने वाले की होती है।

(ख) भविष्यत् काल के लिये अनेक मनोरथों का बांधना बालू की भींत के समान होता है।

(ग) जो लोग भविष्यत् काल के लिये अनेक सांसारिक मनोरथों के सङ्कल्प करते हैं, वे मानो सर्वविनाशिनी तृष्णा राक्षसी की उपासना करते हैं, अतएव वह उनके पास आकर उनके मन को चंचल, अस्थिर और लोभाविष्ट कर देती है तथा उन्हें स्वकर्तव्य से च्युत कर देती है और ऐसा होने से उन्हें दोनों लोकों में दुःख मिलता है।

(घ) मिथ्या संकल्पों से तृष्णा उत्पन्न होकर सन्तोष का सर्वथा नाश कर देती है, मिथ्या संकल्प करनेवाले जन सन्तोषरूपी अमृत-सुख का आस्वाद कभी नहीं पा सकते हैं, असन्तोष एक निःसीम कांटों वाला मार्ग है।

(ङ) मिथ्या संकल्प करनेवाले जनों की इच्छा कभी समाप्त अर्थात् पूर्ण नहीं होती है, इच्छा होने पर उसकी पूर्ति का न होना परम दुःखकारी होता है, सांसारिक विषयों से इच्छा के न हटने से

विरति नहीं होती है तथा विरति के न होने से परमानन्दरूप सुख कभी नहीं मिल सकता है।

इस प्रकार इन पूर्वोक्त विषयों का विचार कर अनुपमावना, निरभिमानता और मिथ्या संकल्पत्याग इन तीनों साधनों का अवलम्बन कर प्रत्येक मनुष्य को अपनी विवेकशक्ति के द्वारा अहिंसा, संयम और तप रूप अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिये कि जिससे उसे लोक परलोक के सुख की प्राप्ति हो, क्योंकि कर्तव्यपालन अर्थात् धर्माचरण में ही एक ऐसी शक्ति है कि वह प्राणियों को दुर्गति से हटाकर शुभस्थान में स्थापित करता है कि जिसमें प्राणियों को निरन्तर शान्ति, सुख और आनन्द की प्राप्ति होती है।



उपसंहार

प्यारे मित्रो ! आपने मेरे पूर्वलिखित दोनों लेखों को पढ़ लिया, मैं पहिले ही कह चुका हूं कि मैं पण्डित, विद्वान और लेखक नहीं हूं, इसलिये आपसे पुनः निवेदन है कि मेरे दोनों लेखों में जो २ त्रुटियां हों तथा अज्ञानवश जिन २ अनुचित शब्दों का प्रयोग किया गया हो, उनके लिये मुझे क्षमा प्रदान कर उनमें जो उचित और हितकारी विषय हो उसका ग्रहण कर मुझे कृतार्थ कीजिये, क्योंकि विचारशील सज्जन हंसवृत्ति होते हैं, वे अनुचित का त्याग कर योग्य वचन का ग्रहण करते हैं चाहे वह बालक का ही कहा हुआ क्यों न हो, हाँ इतना मैं आपसे अवश्य कथन करने का साहस कर सकता हूं कि स्वकपोलकल्पना का परित्याग कर मैंने पूर्वोक्त लेखों में यथाशक्ति शास्त्रीय विषय के उल्लेख की चेष्टा की है, ऐसी दशा में भी उसे आदर देना आपका कर्तव्य है।

इस प्रयास की आवश्यकता यही थी कि हमारे कर्त्तव्य
नभिज्ञ भ्राताओं को कुछ चेतावनी होकर उनके हृदय में
जागृति हो और वे आँखें खोलकर देश की दशा को देखें
इस पर दयादृष्टि डालें और अपने कर्त्तव्य का पालन करें।

हम अपने पूर्वोक्त भाइयों से पुनः निवेदन करते हैं कि
हे भाइयो ! कुछ अपने देश की ओर ध्यान दो, वर्त्तमान
समय में अपने देश में लाखों करोड़ों बालविधवाओं का
आर्त्तनाद गूँजकर भूमण्डल को व्याप्त कर रहा है, हजारों
लाखों भ्रूणहत्या और बालहत्या के घोरपातक इस अभागे
देश पर अपना रोमाञ्चकारी आतङ्क डाल रहे हैं, हजारों लाखों
स्वार्थी, महामूर्ख, अविद्या के उपासक हट्टे कट्टे गे गीदड़
माल उड़ाकर इस देश में घरों में घुसर कर गार्हस्थ्य धर्म का
समूल विनाश कर रहे हैं, लाखों करोड़ों अपने भाई बहिन
और बालक बालिकायें अन्न और वस्त्र से मोहताज होकर
मारे २ फिर रहे हैं और हमारी ओर दृष्टि डालकर कहते
हैं कि हमें बचाओ, हम अनाथ हैं, हमें शरण दो,
दुःख को दूर करो, मनुष्य को ... का ...

होता है, प्राण जाना अच्छा है पर इस दुःख को सहन करने की हमारी शक्ति नहीं है, यदि आप हमें आश्रय न देंगे तो हम निराश्रय होने के कारण विवश होकर धर्मपथ-भ्रष्ट होकर विधर्मियों का आश्रय लेकर आर्य-जाति को कलंकित करेंगे उनके इस विलाप को सुनकर भी उनकी समुचित प्रार्थना पर हमारा ध्यान न जाने से ठीक वैसा ही हो रहा है और इसीलिये प्रतिदिन आर्यजाति का अधः-पतन होता ही जाता है अपने देश पर वर्त्तमान में आधि-भौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःख एनफ्लूएंजा और महामारी आदि भयंकर और तीक्ष्ण शस्त्रों को लिये हुए हमें भयभीत कर अपना अड्डा जमारहे हैं, पूर्वकाल में सब देशों के निवासी यहीं के विद्वानों से विद्योपार्जन कर सब प्रकार की योग्यता का सम्पादन करते थे परन्तु आज दिन हमारे इस परमपुनीत देश से भी शास्त्रविद्या और शास्त्रविद्या आदि अनेक विद्याओं का अभाव होगया और होता जाता है तथा उनका नाम तक सुनाई नहीं देता है पदार्थ विज्ञान का ह्रास होने से कारीगरी के कार्यालयों का अपने देश में सर्वथा अभाव है, देशोत्पन्न प्रत्येक व्या

तनक्षीन, मनमलीन और विषण्णवदन दिखाई
है, प्रत्येक कार्य में हानिकारिणी कुरीतियों ने यहां
अपना अड्डा बना रक्खा है, ब्रह्मचर्य सेवन, गुरुकुल
विद्याभ्यास, योग्यतासम्पादन, भ्रातृस्नेह और सहानु
आदि सद्गुण इस देश से रुष्ट होकर निरन्तर च
जारहे हैं, समय की अमूल्यता का विचार तो हम
अन्तःकरण से बिलकुल ही जाता रहा है, अज्ञान से आरो-
पित कुव्यसनों का झण्डा अनीतिपवन को पाकर इस
देश में लहरा रहा है; देशभक्ति, देशसेवा, देशोपकार,
दीनोद्धार और परोपकार आदि कल्याणकारी सुहृद् हम
से रुष्ट होकर प्रतिदिन पृथक् होते जाते हैं, अविद्या के
कारण कुवासनायें और कुसंस्कार हमारे हृदयों को निरन्तर
दुर्विदग्ध कर रहे हैं, हमारे शारीरिक और आत्मिक बल,
एवं सात्विक ओज का सर्वथा विनाश हो रहा है जिसे देख-
कर अश्रुधारा थामने से भी नहीं थमती है दुःख, दौर्भाग्य
और दारिद्र्य रूपी मेघघटायें इतस्ततः भ्रमण कर हृदय
कम्पित कर रही हैं; फूट, द्रोह [illegible] कलह आदि
प्रतिदिन हम पर कुठाराघात [illegible] उता[illegible]

अवर अब सोने का समय नहीं है, उठो सावधान हो जाओ, अपने को और अपने भाइयों को संभालो "आप सुखी तो जग सुखी" की कहावत को भूल जाओ, अपने जीवन को सच्चरित्र के द्वारा आदर्शरूप बनाओ, देश की उन्नति करो, विवाह शादी आदि के समय जितना द्रव्य खर्च करते हो उससे चौथाई भाग भी उक्त अवसरों पर यदि शुभ कार्यों के लिये देते रहो तो देश का बहुत कुछ कल्याण हो सकता है।

इस बात को अपने हृदय-पटल पर भले प्रकार से अङ्कित करलो कि कुव्यसनों के द्वारा विनाश को प्राप्त होते हुए अपने द्रव्य को जबतक कुव्यसनों का परित्याग कर सन्मार्ग में न लगाओगे तबतक कदापि तुम्हारा कल्याण नहीं होसकेगा, प्रसंगानुसार लिखना पड़ता है कि वर्तमान समय में प्रायः हमारे मारवाड़ी भाइयों में सब व्यसनों में से एक प्रधान व्यसन तेजी मन्दी का सौदा करना भी है, कलकत्ता आदि नगरों में इस सौदे के बाड़े बने हुए हैं। जिन में पाट, रुई, अफीम, अलसी, चीनी, एशियन

और चांदी आदि का सौदा होता है, कलकत्ता नगर में लगभग १५ वर्ष से इन बाड़ों में फाटकों का बड़े ज़ोर से प्रचार है, ये फाटके के बाड़े क्या हैं मानों कसाईबाड़े हैं, क्योंकि इन में पहुँच कर अनेक भोले जीव, अपना गहनागांठा आदि भी गिरवी रखकर अपने और अपने भाइयों के धन का बलिदान कर आप दुःखसागर में डूबते और दूसरों को डुबोते हैं, इन बाड़ों में सर्वनाशकारी दलाल लोग ही होते हैं, जो कि मोदी के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये लोग आये हुये मूर्खों को ऐसा फँसाते हैं कि उन्हें निकल जाने का अवसर नहीं मिलता है। ये लोग मदारी के तुल्य उन पकड़े हुए जनों को बन्दर और भालू के समान जैसे नचाते हैं वैसा ही ये विचारे नाचते हैं, क्योंकि बाड़े की शैली ही यही है। यहां आकर साधारण जनों का तो फँस जाना एक मामूली बात है, किन्तु यहां आने पर बड़े २ मोदी बड़े २ अक्खड़ों को भी अजगर सर्प के समान ऐसा फँसाते हैं कि उनकी मजाल क्या जो वे फन्दे से छुड़ा जावें। ऐसे बड़े २ अक्खड़ों से फुसला २ कर सौदा भी ऐसा कराते हैं कि उन्हें उसका पूरा स्वाद मिल जाता है तथा

इनको उदाहरण दे देकर दूसरी चिड़ियों को तो ऐसा काबू में करते हैं कि उन्हें अपनी चेंचें भी भूलजाती है, सौदे के रुपये का काटदेना भी इन्हीं दलालों के हस्तगत होता है, कभी २ ऐसा इत्तिफाक भी हो जाता है कि कोई पूर्व-पाशबद्ध धूर्त्त आकर मोदियों पर भी चोट कर जाता है और उन्हें भी नीचा दिखा जाता है।

इस सौंदे के सुप्रबन्ध के लिये एक कमेटी बनी हुई है, जिसके ६ सदस्य हैं और वे डाइरेक्टर कहलाते हैं, ये लोग अपनी कमेटी में सौंदे के सुप्रबन्ध के लिये नियम बनाते हैं, परस्पर में विवाद होजाने पर व्यापारियों का फैसला करते हैं, सौंदे में उत्पन्न हुए सब प्रकार के अन्याय का निवारण करते हैं, मोदी (दलाल) वा व्यापारी का फैसला भी करते हैं तथा सौंदा होने पर नियत काल से कम द्रव्य न दिया जावे; इसका प्रबन्ध करते हैं, अशिक्षित साधारण लोग इन डाइरेक्टरों को "डाक्टर" नाम से भी पुकारते हैं और सच पूछो तो एक प्रकार से इनको डाक्टर कहना अनुचित नहीं; किन्तु उचित ही है; क्योंकि बाड़े में फँस-

फर जब कोई भालू वा बन्दर अनुचित रीति से अपनी नस (गर्दन) हिलाता है तब ये लोग उसकी अच्छे प्रकार से चिकित्सा करते हैं. क्योंकि ये लोग चि.कित्सा का पूरा स्टोर अपने पास रखते हैं तथा चिकित्सा-कार्य में बड़े प्रवीण होते हैं।

मैं औरों के लिये क्या कहूँ कर्मानुसार मैं स्वयं उक्त बाड़े का दलाल अर्थात् मोदी वा कार्यसञ्चालक हूँ। मैंने भी उक्त बाड़े में पाँच सात वर्ष से मोदीखाना खोल रक्खा है और इसी की कमाई खाता हूँ, परन्तु इस नाश-कारी कार्य से मुझे पहिले से ही घृणा है, अतः स्वयं हट-कर दूसरों को उससे हटाना अपना कर्तव्य समझता हूँ। अतएव कहता हूँ कि उससे और इस प्रकार के सब ही दुर्व्यसनों से बचकर आत्मसुधार करो, अपनी उन्नति करो और योग्य साधनों का उपार्जन कर आत्मा का कल्याण करो, परमात्मा की पूर्ण कृपा है जो हम सबको श्रीमती न्यायशीला ब्रिटिश गवर्नमेंट के साम्राज्य-संयोग का सौ-भाग्य प्राप्त है कि जिसमें हम सब स्वतन्त्रतापूर्वक अपने

लौकिक और पारलौकिक कर्त्तव्यानुष्ठान को निर्विघ्न कर सकते हैं, यदि हम लोग बीती को बिसार अब भी प्रमाद-निद्रा का परित्याग कर स्वकर्त्तव्य का पालन करने में संबद्ध होंगे तो अवश्य देश का और हम सब का परम कल्याण होगा तथा हम सब शाश्वत् सुख के अधिकारी बनेंगे।

किमधिकम् ॥

भवदीय विनीत निवेदकः—

मङ्गलचन्द दूगड़

बीकानेर.



पाठक वर्ग से निवेदन॥

प्रिय पाठक सज्जनों तथा मारवाड़ी भ्राताओ!

यह छोटीसी पुस्तक रचकर आपकी सेवा में समर्पित की है, इसे एकबार पढ़ कर मेरे परिश्रम को सफल कीजिए तथा इसमें से उचित और सार भाग का ग्रहण कर मुझे कृतार्थ कीजिए, कुरीतियों और कुव्यसनों से होती हुई हानियों को देख हृदय की विह्वलता से उत्तेजित हो कर यदि पुस्तक में कहीं अनुचित तथा कठोर शब्दों का प्रयोग [illegible]

[illegible]

[illegible] कियें देता हूं कि वे उस शब्द प्रयोग में स्थगित भाव को ग्लानिवशात् मेरा स्वयं आत्मभर्त्सनारूप समझें, क्योंकि मैं स्वयं इस व्यापार में अब तक तत्पर रहा हूं, अवगुण विशेष से स्वयं दूषित मनुष्य उससे हटने के लिए दूसरों को शिक्षा देने का अनधिकारी होता है, बस कहना केवल इतना ही है कि हमारे भ्राता शब्दप्रयोग पर ध्यान न देकर उसके परिणाम की ओर अपना लक्ष्य ले जावें तथा उक्त कुव्यसनत्याग में यदि वे शुभ परिणाम देखें तो उसका त्याग करें, नहीं तो मुझे अपना बालक तथा मेरे लेख को बाललीला जान मुझे अपनाये रहें, किमधिकं विज्ञेषु।

आपका— मङ्गलचन्द दुगड़